RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17, अंक-4, सितम्बर अक्टूबर नवम्बर 2024

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम् ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17 अंक - 4 सितम्बर-अक्टूबर-नवम्बर-2024

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक

डॉ. रीता पारीक

प्राचार्य

हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. मृत्युंजय शर्मा

सह-आचार्य

हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक

डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन

मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय

सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :

पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :

मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :

श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

महर्षि दयानंद का राजनीतिक चिंतन

राहुल कुमार
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

महर्षि दयानंद सरस्वती का राजनीतिक चिंतन वैदिक परंपरा, नैतिक मूल्यों और लोककल्याण की भावना पर आधारित था। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ-प्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि में प्राचीन भारतीय ग्रंथों—विशेषत: ऋग्वेद, ब्राह्मण ग्रंथों, मनुस्मृति, विदुरनीति और महाभारत के शान्तिपर्व के आधार पर आदर्श राज्य-व्यवस्था का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार राज्य का मुख्य उद्देश्य केवल सत्ता संचालन नहीं, बल्कि प्रजा का शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक कल्याण है।

महर्षि दयानंद निरंकुश शासन के विरोधी थे। वे मानते थे कि राजा या शासक धर्म और कानून के अधीन होता है तथा उसे प्रजा के प्रति पूर्णत: उत्तरदायी रहना चाहिए। यदि शासक अन्याय करता है या अधर्म का आचरण करता है, तो उसे शासन का अधिकार नहीं रह जाता। उन्होंने योग्यता, विद्या और सदाचार को शासन का आधार मानते हुए प्रजातांत्रिक तत्वों का समर्थन किया, जिससे जनता की सहभागिता और परामर्श को महत्व मिला।

राजधर्म के अंतर्गत उन्होंने न्यायपूर्ण कर-व्यवस्था, समान कानून, निष्पक्ष न्याय और भ्रष्टाचार-रहित प्रशासन पर बल दिया। आपद्धर्म की स्थिति में भी नैतिकता और धर्म का पालन आवश्यक माना गया। महर्षि दयानंद ने अपने इन विचारों को व्यवहार में उतारते हुए उदयपुर, जोधपुर और अन्य राज्यों के शासकों को प्रजाहितकारी एवं धर्मसम्मत शासन अपनाने की प्रेरणा दी। बड़ौदा में राजधर्म पर दिया गया उनका व्याख्यान उनके गहन राजनीतिक चिंतन और व्यावहारिक दृष्टि का प्रभावशाली उदाहरण है।

राजा की निरंकुशता का विरोध :

महर्षि दयानंद सरस्वती राज्य-व्यवस्था के लिए राजा की आवश्यकता स्वीकार करते थे, परंतु वे राजा की निरंकुशता के घोर विरोधी थे। उनका मानना था कि जब सत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ में पूर्णत: सौंप दी जाती है, तब वह राजा प्रजा का रक्षक न रहकर उसका शोषक बन जाता है। इसलिए दयानंद के अनुसार राज्य में किसी भी व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीन और सर्वेसर्वा नहीं बनाया जाना चाहिए।

महर्षि दयानंद ने शतपथ ब्राह्मण के 'राष्ट्रमेव...' आदि मंत्रों के आधार पर राजाओं की स्वाधीनता का खंडन किया है। उनके अनुसार जो राजा प्रजा से स्वतंत्र होकर स्वेच्छाचारी बन जाता है, वह राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश करता है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि अकेला और उन्मत्त राजा प्रजा को 'खा जाने वाला' होता है, अर्थात् वह अपने स्वार्थ के लिए प्रजा के अधिकारों, धन और सुख-साधनों को नष्ट कर देता है। जैसे सिंह बलवान पशु को मारकर खा जाता है, वैसे ही स्वतंत्र राजा प्रजा को उन्नति से वंचित कर

देता है और किसी को अपने से अधिक आगे नहीं बढ़ने देता। ऐसा राजा अन्याय, लूट और कठोर दंड के माध्यम से अपना प्रयोजन सिद्ध करता है।

महर्षि दयानंद ने यह भी लिखा है कि राज्य के लिए किसी एक व्यक्ति को राजा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि जहाँ एक को ही सर्वाधिकार दे दिया जाता है, वहाँ प्रजा स्वाभाविक रूप से दु:खी हो जाती है और राज्य में श्रेष्ठ साधनों का अभाव उत्पन्न हो जाता है। ऐसी व्यवस्था में न तो प्रजा की उन्नति होती है और न ही राज्य का वास्तविक विकास संभव हो पाता है। इसी दृष्टि से उन्होंने उदयपुर के महाराणा को लिखे विशेष नियमों में स्पष्ट निर्देश दिया कि राजकार्य किसी एक पर निर्भर न रखा जाए, बल्कि राजपुरुषों और प्रजापुरुषों की सम्मिलित सहमति से शासन चलाया जाए।

शासन संचालन की तीन सभाएँ :

शासन के सुचारु संचालन के लिए महर्षि दयानंद ने वैदिक आधार पर सभा-प्रणाली का समर्थन किया। ऋग्वेद के 'त्रीणि राजान:...' मंत्र के आधार पर उन्होंने तीन सभाओं की स्थापना का परामर्श दिया। इन सभाओं के माध्यम से ही राज्य में विद्या, धर्म और प्रशासन तीनों का संतुलित विकास संभव है। उनके अनुसार विद्यासभा से ज्ञान और शिक्षा का प्रसार होता है, धर्मसभा से धर्म की रक्षा और अधर्म का नाश होता है तथा राजसभा के द्वारा राज्य-प्रशासन सुचारु रूप से संचालित होता है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि दयानंद ने स्पष्ट कहा कि राजा किसी एक मनुष्य को नहीं, बल्कि इन तीनों सभाओं को मानना चाहिए। यही सभाएँ मिलकर राज्यप्रबंधन, विद्या-प्रचार और धर्म-संरक्षण का दायित्व निभाती हैं। इस प्रकार महर्षि दयानंद का राजनीतिक चिंतन निरंकुश राजतंत्र के स्थान पर सभा-आधारित, न्यायपूर्ण और लोककल्याणकारी शासन की स्थापना करता है, जो आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था की भावना से पूर्णत: मेल खाता है।

सभाओं के सदस्य एवं राजा (सभापति) :

महर्षि दयानंद सरस्वती के अनुसार राज्य-व्यवस्था के संचालन के लिए स्थापित तीनों सभाओं में अनेक योग्य सभ्य अर्थात् सदस्य होने चाहिए। इन सभासदों का आचरण, कर्तव्यबोध और अनुशासन वैदिक मर्यादाओं के अनुरूप होना आवश्यक है। वे अथर्ववेद के मंत्र 'सभ्य समां मे पाहि ये च सभ्या: सभासद:' के आधार पर यह स्पष्ट करते हैं कि जो व्यक्ति सभा के योग्य हो, वही सभासद बने और वह सभा की व्यवस्था तथा नियमों का पूर्ण पालन करे। सभा की गरिमा और प्रभावशीलता योग्य, निष्ठावान और कर्तव्यपरायण सदस्यों पर ही निर्भर करती है।

महर्षि दयानंद के राजनीतिक चिंतन में राजा की स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण होते हुए भी सीमित है। राजा इन सभाओं के सभासदों में से ही एक होता है और अपनी योग्यता, विद्या तथा चरित्र के आधार पर उसे सभापति बनाया जाता है। वह जन्म या शक्ति के कारण नहीं, बल्कि गुण और कर्म के आधार पर नेतृत्व करता है। दयानंद की स्पष्ट घोषणा है कि किसी एक व्यक्ति को स्वतंत्र और निरंकुश राज्याधिकार नहीं देना चाहिए। उनके अनुसार व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि राजा सभापति के रूप में सभा के अधीन रहे, सभा राजा के अधीन न होकर राजा सभा के अधीन रहे, और राजा तथा सभा—दोनों प्रजा के अधीन हों, जबकि प्रजा राजसभा के अधीन रहकर भी अंतिम नियंत्रण अपने पास रखे। इस प्रकार सत्ता का संतुलन बना रहता

है।

अकेले राजा को सर्वेसर्वा न मानने के पीछे महर्षि दयानंद ने एक महत्वपूर्ण तर्क दिया है। उनका कहना है कि बिना विशेष सहाय के तो सरल कार्य भी एक व्यक्ति के लिए कठिन हो जाते हैं, फिर इतने विशाल और जटिल राज्य-कार्य एक व्यक्ति अकेला कैसे कर सकता है। इसलिए राज्य का संचालन केवल एक राजा या एक बुद्धि पर निर्भर रखना अत्यंत हानिकारक है। यही कारण है कि वे सामूहिक बुद्धि, परामर्श और सहयोग को शासन का आधार मानते हैं।

महर्षि दयानंद ने अनेक स्थलों पर सभाओं की सर्वोच्चता को प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार जब तक सभासदों की अनुमति न हो, तब तक राजा को अपने मन से कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। राजा वही कार्य करे जो सभा द्वारा निर्धारित हों और उन्हीं अधिकारों का उपभोग करे जो सभा ने उसे दिए हों। ऐसा धर्मपूर्वक शासन करने वाला राजा ही अपने कर्मों के फल का अधिकारी होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि राजा की शक्ति और अधिकार सभा की स्वीकृति पर ही आधारित होते हैं।

महर्षि दयानंद का मत है कि राजकार्य के लिए विभिन्न प्रकार के अध्यक्षों और विशेषज्ञों की सभा होनी चाहिए। इन सभाओं का कर्तव्य यह हो कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कार्यक्षेत्र में नियमानुसार, न्यायपूर्वक और उत्तरदायित्व के साथ कार्य करे। इससे शासन में व्यवस्था, पारदर्शिता और दक्षता बनी रहती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि महर्षि दयानंद के राजनीतिक चिंतन में राजा सभाओं का केवल एक सदस्य है, सर्वेसर्वा नहीं। वह सभा के परामर्श और निर्देशन से ही राजकार्य संपन्न करता है और सभाओं का उस पर पूर्ण अंकुश रहता है। साथ ही ये सभाएँ भी स्वतंत्र या निरंकुश नहीं होतीं, क्योंकि उन पर प्रजा का नियंत्रण रहता है। इस तरह प्रजा पर सभाओं का और सभाओं पर प्रजा का अंकुश स्थापित कर महर्षि दयानंद ने ऐसी राज्य-व्यवस्था की कल्पना की, जिसमें न राजा स्वेच्छाचारी बन सके और न ही सभाएँ निरंकुश हों, बल्कि सम्पूर्ण शासन लोककल्याण और न्याय के पथ पर संचालित हो।

सभापति (राजा) की योग्यता/गुण :

महर्षि दयानंद सरस्वती के अनुसार सभापति अर्थात् राजा वही होना चाहिए जो समस्त सभासदों में गुण, कर्म और स्वभाव की दृष्टि से सर्वोत्तम हो। सभ्यजन ऐसे ही महान् पुरुष को राजसभा का सभापति मानकर उसका सम्मान करें और उसके माध्यम से राज्य तथा प्रजा की उन्नति करें। उनके विचार में सभापति पद किसी का जन्मसिद्ध अधिकार नहीं, बल्कि योग्यता और सदाचार से प्राप्त दायित्व है।

सभापति का व्यक्तित्व आंतरिक और बाह्य दोनों रूपों में श्रेष्ठ होना चाहिए, ताकि समाज का प्रत्येक वर्ग उसे आदर की दृष्टि से देखे। वह शत्रुओं को जीतने में समर्थ हो, जिससे राज्य की सुरक्षा बनी रहे, तथा उत्तम शासन-प्रबंध चलाने की क्षमता रखता हो। ऐसा राजा होना चाहिए जिसके पास प्रजाजन बिना भय और संकोच के जा सकें और जो सभी की सहायता करने में सक्षम हो। वह ज्ञान और धन दोनों की वृद्धि करने वाला हो, जिससे राज्य की बौद्धिक और आर्थिक समृद्धि सुनिश्चित हो सके।

महर्षि दयानंद ने सभापति के लिए पक्षपात-रहित न्याय को अत्यंत आवश्यक माना है। राजा पूर्ण विद्याविनय से युक्त हो—अर्थात् विद्वान होते हुए भी विनम्र रहे—और पूरी सभा का संरक्षण तथा संचालन

करने में समर्थ हो। वह विविध मतों को सुनकर संतुलित निर्णय लेने वाला हो, जिससे शासन सुचारु और न्यायपूर्ण बना रहे।

इन गुणों का वर्णन करते हुए महर्षि दयानंद ने वैदिक प्रतीकों का सहारा लिया है। उनके अनुसार आदर्श सभाध्यक्ष इन्द्र के समान शीघ्र ऐश्वर्य प्रदान करने वाला, वायु के समान सबका प्राणवत् प्रिय, यम के समान निष्पक्ष न्याय करने वाला, सूर्य के समान न्याय, धर्म और विद्या का प्रकाश फैलाने वाला तथा अविद्या और अन्याय के अंधकार का नाशक होना चाहिए। वह अग्नि के समान दुष्टों का दमन करने वाला, वरुण के समान अपराधियों को नियंत्रित करने वाला और चन्द्र के समान सज्जनों को आनंद देने वाला हो। साथ ही वह राज्य-कोष की वृद्धि करने में समर्थ और अत्यंत तेजस्वी तथा ऐश्वर्यशाली हो।

राज्य के अन्य घटक :

महर्षि दयानंद सरस्वती के अनुसार आदर्श राज्य-व्यवस्था केवल राजा और सभाओं तक सीमित नहीं होती, बल्कि उसके अंतर्गत कुछ अन्य आवश्यक घटकों का भी समुचित संगठन होना चाहिए। तीन सभाओं और उनके एक सभापति के निर्वाचन के पश्चात् उन सभाओं के अधीन विभिन्न समितियों तथा सेना का गठन किया जाना आवश्यक है। वे इस व्यवस्था का आधार अथर्ववेद के मंत्र 'तं समा च समितिश्च सेना च' (अथर्ववेद 15.2.6.2) को मानते हैं। इस मंत्र के अनुसार सभा, समिति और सेना—तीनों राज्य की स्थिरता, सुरक्षा और सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य हैं। समितियाँ प्रशासनिक कार्यों के संचालन में सहायता करती हैं, जबकि सेना राज्य की आंतरिक और बाह्य सुरक्षा का दायित्व निभाती है।

महर्षि दयानंद ने राज्य के एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में मन्त्रीमंडल की व्यवस्था का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार राजा को यह अधिकार है कि वह सभासदों में से ही सचिव या मंत्री नियुक्त करे। आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार मंत्रियों की संख्या घटाई या बढ़ाई जा सकती है। मंत्री ऐसे होने चाहिए जो स्वराज्य अथवा स्वदेश में उत्पन्न हों, वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता हों, शूरवीर हों, उच्च आदर्शों वाले हों तथा कुल, आचरण और चरित्र की दृष्टि से श्रेष्ठ माने जाते हों। इससे यह सुनिश्चित होता है कि शासन देशहित, धर्म और नैतिकता के अनुरूप चले।

महर्षि दयानंद के अनुसार राजा को प्रतिदिन मन्त्रीमंडल के साथ राज्य के प्रमुख विषयों पर परामर्श करना चाहिए। इनमें अन्य राज्यों से संधि अर्थात् मित्रता, विग्रह अर्थात् विरोध या युद्ध, स्थान नीति के अंतर्गत न मित्रता न विरोध रखते हुए अपने राज्य की रक्षा करना, अपने अनुकूल समय में शत्रु पर आक्रमण करना, राज्य की सेना और कोष की सुरक्षा तथा अधीनस्थ या जीते हुए क्षेत्रों में शांति की स्थापना जैसे विषय सम्मिलित हैं। इन सभी विषयों पर विचार-विमर्श कर निर्णय लेना ही सुव्यवस्थित शासन की पहचान है।

अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी :

महर्षि दयानंद सरस्वती के अनुसार आदर्श राज्य-व्यवस्था में केवल राजा और सभाएँ ही नहीं, बल्कि योग्य अधिकारियों और कर्मचारियों का सुव्यवस्थित तंत्र भी अत्यंत आवश्यक है। उन्होंने राज्य के प्रमुख अधिकारियों में राजा, मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी तथा मुख्य न्यायाधीश को सम्मिलित किया है। दयानंद का स्पष्ट मत है कि ये सभी अधिकारी वेदादि शास्त्रों में प्रवीण हों, अपने-अपने विषय की

सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त किए हों, धर्मात्मा हों और जितेन्द्रिय जीवन का पालन करते हों। ऐसे अधिकारी ही न्यायपूर्ण, नैतिक और प्रभावी शासन प्रदान कर सकते हैं।

इन प्रमुख अधिकारियों के अतिरिक्त राजा को चाहिए कि जितने मनुष्यों से राज्यकार्य सुचारु रूप से सिद्ध हो सके, उतने आलस्यरहित, परिश्रमी, शारीरिक रूप से स्वस्थ और कार्यकुशल व्यक्तियों को अधिकारी एवं कर्मचारी के रूप में नियुक्त करे। महर्षि दयानंद ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि किस प्रकार के व्यक्ति से किस प्रकार का कार्य करवाया जाए, इसका निर्धारण उसके स्वभाव, योग्यता और अनुभव के आधार पर होना चाहिए। उनके अनुसार बड़े और महत्त्वपूर्ण कार्य उन व्यक्तियों से कराए जाएँ जो उनमें निपुण और विश्वसनीय हों, जबकि आंतरिक एवं सामान्य प्रशासनिक कार्य ऐसे व्यक्तियों को सौंपे जाएँ जिनका स्वभाव उस कार्य के अनुकूल हो।

राज्य की सुरक्षा और प्रशासन की निगरानी के लिए महर्षि दयानंद ने गुप्तचर व्यवस्था को भी आवश्यक माना है। उनके अनुसार सभापति, अधिकारी और अन्य उच्च पदस्थ व्यक्तियों के अधीन विभिन्न जातियों और स्थानों से जुड़े अनेक गुप्तचर नियुक्त किए जाएँ। ये गुप्तचर गुप्त रूप से प्रजा के गुण और दोषों की जानकारी प्राप्त करें, ताकि योग्य व्यक्तियों को सम्मान और दुष्टों को दंड दिया जा सके। इससे शासन को वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है और अन्याय या अराजकता पर समय रहते नियंत्रण संभव हो पाता है।

महर्षि दयानंद ने एक व्यावहारिक और गहन दृष्टिकोण अपनाते हुए यह भी कहा है कि प्रजा की रक्षा के कार्य में धार्मिक, कुलीन और विद्वान व्यक्तियों को तो नियुक्त किया ही जाए, किंतु उनके अधीन कुछ शठ, चोर और डाकुओं को भी रखा जा सकता है। यह विचार 'शठे शाठं समाचरेत' के सिद्धांत पर आधारित है, जिसके अनुसार दुष्टों का दमन दुष्टों के माध्यम से भी किया जा सकता है। उनका तात्पर्य यह था कि यदि दुष्ट प्रवृत्ति के लोगों से योजनाबद्ध और राज्योपयोगी कार्य न लिए जाएँ, तो वे स्वयं राज्य के लिए गंभीर समस्या बन सकते हैं। किंतु यदि उन पर उचित नियंत्रण रखते हुए उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सौंपे जाएँ, तो वे राज्यहित में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

इस संदर्भ में महर्षि दयानंद का चिंतन अत्यंत यथार्थवादी प्रतीत होता है। आज के समय में भी जेलों में अपराधियों को निगरानी और नियंत्रण जैसे कार्यों में लगाकर उनसे सकारात्मक परिणाम प्राप्त किए जाते हैं। इसी प्रकार, ऐसे व्यक्तियों से समाज और राज्य के दुष्ट तथा अपराधी तत्वों पर दृष्टि रखने, उन्हें रोकने और पकड़ने में सहायता ली जा सकती है। इस प्रकार महर्षि दयानंद की अधिकारी और कर्मचारी व्यवस्था आदर्शवाद और व्यवहारिकता—दोनों का संतुलित समन्वय प्रस्तुत करती है।

राज्य अथवा राजा के कार्य :

महर्षि दयानंद सरस्वती के राजनीतिक चिंतन में राज्य और राजा के कार्य केवल प्रशासनिक दायित्व नहीं हैं, बल्कि वे धर्म, न्याय, विद्या, शक्ति और लोककल्याण के समन्वित स्वरूप के रूप में प्रस्तुत होते हैं। उनके अनुसार राजा परमात्मा की व्यवस्था के अंतर्गत क्षात्र-धर्म का प्रतिनिधि होता है। वह प्रजा का स्वामी नहीं, बल्कि उसका रक्षक, पालक और मार्गदर्शक होता है। राजा का मूल कर्तव्य है—प्रजाओं का संगठन, दुष्ट शक्तियों का दमन, चोर-डाकुओं और असुर प्रवृत्तियों का नाश, वेद-विद्या का संरक्षण तथा धर्म की

रक्षा। इस प्रकार राज्य का उद्देश्य केवल बाह्य शांति नहीं, बल्कि नैतिक और बौद्धिक उत्थान भी है।

महर्षि दयानंद के अनुसार राजा को राज्य की भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार की शक्तियों का विकास करना चाहिए। सेना, अश्व, गौ, यज्ञ, राज्य-विस्तार, शूरवीरता तथा वेदादि शास्त्र-विद्या की वृद्धि—ये सभी राज्य के आवश्यक कार्य हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि राज्य की उन्नति केवल धन या सैन्य शक्ति से नहीं होती, बल्कि विद्या और धर्म से भी होती है। यदि केवल विद्या का विकास हो और शारीरिक बल न हो, तो एक बलवान व्यक्ति अनेक विद्वानों को पराजित कर सकता है; और यदि केवल शारीरिक बल हो, परन्तु विद्या और विवेक न हों, तो वही बल आपसी फूट, संघर्ष और विनाश का कारण बन जाता है। इसलिए राजा का कर्तव्य है कि वह शरीर-बल और आत्म-बल—दोनों को समान रूप से बढ़ाए।

राज्य की संरचना को समझाने के लिए महर्षि दयानंद ने राज्य-पुरुष की एक अत्यंत सशक्त कल्पना प्रस्तुत की है। वे राज्य को एक जीवित शरीर के रूप में देखते हैं। राज्य की उत्तमता उसकी पीठ के समान है, जो सम्पूर्ण ढांचे को संभालती है। सेना हाथों के मूल के समान है, जो रक्षा और आक्रमण का कार्य करती है। कोष उदर के समान है, जिससे सम्पूर्ण शरीर को पोषण मिलता है। प्रजा को सुखी करने का प्रयत्न कंठ और नाभि के अधोभाग के समान है, क्योंकि वहीं से जीवन-शक्ति प्रवाहित होती है। व्यापार भुजाओं के समान है, जो कार्य और परिश्रम का प्रतीक है। गणित और लेखा-विद्या ऊरुओं के समान है, जो संतुलन और स्थिरता प्रदान करती है। प्रजा और राजसभा का मेल घुटनों के समान है, जिनके बिना शरीर खड़ा नहीं रह सकता। इस रूपक से यह स्पष्ट होता है कि राज्य का कोई भी अंग उपेक्षित नहीं किया जा सकता; सभी अंगों का स्वस्थ होना अनिवार्य है।

महर्षि दयानंद यह भी निर्देश देते हैं कि राजा की सेना और सभा के सदस्य दुष्टों के प्रति कठोर हों, परंतु सज्जनों के प्रति शांत और करुणामय रहें। उन्हें सुख-दुःख को समान भाव से सहन करने वाला, अनुशासित और राज्य-हित के लिए अत्यन्त पुरुषार्थी होना चाहिए। उनके अनुसार राज्य के लिए तीन तत्त्व अत्यावश्यक हैं—वेद-विद्या से युक्त ब्राह्मण, न्याययुक्त शासन-व्यवस्था और दण्ड-भय से युक्त क्षात्र-पराक्रम। ब्राह्मण विद्या और नैतिक दिशा देता है, क्षत्रिय सुरक्षा और व्यवस्था प्रदान करता है, और न्याय-व्यवस्था इन दोनों को संतुलित रखती है।

राज्य की समृद्धि के लिए महर्षि दयानंद ने आवश्यक भौतिक साधनों की भी विस्तृत चर्चा की है। शस्त्रास्त्र, धन-धान्य, वाहन, पढ़ाने और उपदेश देने वाले विद्वान, यंत्र और कलाओं में निपुण शिल्पी, पशुओं के लिए चारा-घास, जल तथा सभी ऋतुओं के अनुकूल वृक्ष और पुष्प—ये सभी राज्य की आर्थिक, सैन्य और पर्यावरणीय आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि जैसे शरीर को दुर्बल करने से प्राण क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजा को दुर्बल करने से राजा का बल, वैभव और राज्य शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतः प्रजा का शोषण नहीं, बल्कि उसका पोषण और सशक्तिकरण ही राज्य का वास्तविक कर्तव्य है।

राजा को महर्षि दयानंद गुप्त मंत्रणा का भी निर्देश देते हैं। उनके अनुसार मन्त्री के साथ पर्वत, वन अथवा एकान्त स्थान में विचार-विमर्श करना चाहिए। परोपकार के लिए अच्छे विचारों को गुप्त रखने वाला राजा, भले ही वह धनहीन हो, फिर भी सफलतापूर्वक राज्य चला सकता है। उन्होंने उदयपुराधीश को लिखे विशेष नियमों में यह भी कहा कि राजा को ऐसा कर-प्रबन्ध करना चाहिए जिससे कृषक, पशुपालक और

श्रमिक वर्ग सुखी रहें। इन्हें राज्य के समस्त सुखों का मूल कारण मानकर राजा को उनसे पिता के समान व्यवहार करना चाहिए। साथ ही राजा को अपनी सत्ता और शक्ति को कम नहीं होने देना चाहिए, पर उसका उपयोग केवल प्रजा-हित में हो।

सितम्बर 1874 के एक प्रसिद्ध विज्ञापन में महर्षि दयानंद ने कानून और न्याय की भूमिका को अत्यंत स्पष्ट शब्दों में रखा। उनके अनुसार राजा और प्रजा दोनों को ऐसा कानून मानना चाहिए जिससे लूट, चोरी, परस्त्रीगमन, मिथ्या साक्ष्य, बाल-विवाह और विद्या का लोप न हो। ऐसा कानून ही धर्म है जो लोक और परलोक—दोनों को शुद्ध करता है। धर्म का अर्थ कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि न्याय है; और न्याय का अर्थ है—पूर्णतः पक्षपात का त्याग। जब तक न्याय सुदृढ़ नहीं होगा, तब तक अपराधी को दण्ड और प्रत्येक को समान अधिकार देना संभव नहीं।

इन समस्त विचारों के आधार पर महर्षि दयानंद राज्य के चार मूल कर्तव्य स्पष्ट करते हैं—ज्ञान की वृद्धि, क्षात्र-धर्म का विकास अर्थात् आंतरिक और बाह्य शत्रुओं से रक्षा, धन-धान्य की वृद्धि द्वारा निर्धनता और रोग का नाश, तथा सुदृढ़ न्याय-व्यवस्था द्वारा दुष्टता और सामाजिक असमानता की समाप्ति। वे कहते हैं कि राष्ट्र में इन चारों तत्वों की समान उन्नति अनिवार्य है। जिस देश में विद्वान ब्राह्मण, सशक्त विद्यासभा और न्यायप्रिय, शूरवीर क्षत्रिय मिलकर राजकार्य करते हैं, वही देश धर्म, शांति और सुख को प्राप्त करता है।

महर्षि दयानंद राजा को यह उपदेश देते हैं कि वह अपने शरीर या व्यक्तिगत सत्ता को राजा न माने, बल्कि राजनीति और राज्य-नीति को ही वास्तविक राजा माने। दिन-रात राजकार्य में प्रवृत्त रहना, किसी भी कार्य को बिगड़ने न देना—यही राजा की संध्या, उपासना और धर्म-कर्म है। इसी कारण उन्होंने राजा को बाह्य धार्मिक कर्मकाण्डों से भी मुक्त रखा है। जो राजा निरन्तर राज्यपालन में तत्पर रहता है, उसी का राज्य और सुख स्थायी रूप से बढ़ता है; और जो मोह या अविवेक से राज्य को दुर्बल करता है, वह अपने बन्धु-बांधवों सहित शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

निष्कर्षतः समग्र रूप से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि महर्षि दयानंद सरस्वती का राज्य-विचार अत्यंत व्यावहारिक, नैतिक और लोककल्याण पर आधारित है। उनके अनुसार राज्य केवल शासन की संस्था नहीं, बल्कि एक सजीव संगठन है, जिसमें राजा, सभा, समिति, मन्त्रिमण्डल, सेना, अधिकारी, कर्मचारी और प्रजा—सभी का संतुलित एवं परस्पर सहयोग आवश्यक है। राजा प्रजा का स्वामी नहीं, बल्कि उसका रक्षक और सेवक है, जिसका मुख्य कर्तव्य धर्म, न्याय, विद्या और सुरक्षा की स्थापना करना है। मन्त्रिमण्डल और सभाएँ राजा को परामर्श देकर निर्णयों को न्यायसंगत बनाती हैं, जबकि सेना और गुप्तचर व्यवस्था राज्य की आंतरिक व बाह्य सुरक्षा सुनिश्चित करती है। अधिकारी और कर्मचारी योग्यता, परिश्रम और नैतिकता के आधार पर नियुक्त होकर शासन को सुचारु बनाते हैं। दुष्टों से निपटने के लिए दुष्ट प्रवृत्ति वालों का भी योजनाबद्ध उपयोग करना राज्यहित में आवश्यक माना गया है। इस प्रकार महर्षि दयानंद का राज्य-दर्शन एक ऐसे आदर्श शासन की कल्पना प्रस्तुत करता है, जिसमें शक्ति और नीति, दण्ड और करुणा, विद्या और पराक्रम—सबका समन्वय हो तथा जिसका अंतिम उद्देश्य प्रजा का सर्वांगीण सुख और राष्ट्र की स्थायी उन्नति हो।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. महर्षि दयानंद सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, सम्पादक- पं. युधिष्ठिर मीमांसक, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, 1975
2. महर्षि दयानंद सरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1962
3. महर्षि दयानंद सरस्वती, उदयपुर महाराणा को लिखे गए नियम, संकलन- आर्य साहित्य प्रचारक ट्रस्ट, अजमेर, 1968
4. पं. युधिष्ठिर मीमांसक (सम्पा.), महर्षि दयानंद ग्रन्थावली (भाग-3), सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, 1976
5 शतपथ ब्राह्मण, हिन्दी अनुवाद- पं. सत्यव्रत सामश्रमी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1980
6. ऋग्वेद, सायण भाष्य सहित हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1994
7 अथर्ववेद, हिन्दी अनुवाद- पं. रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1987
8. मनुस्मृति, हिन्दी टीका- पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, विद्यानिधि प्रकाशन, कानपुर, 1969
9. कौटिल्य, अर्थशास्त्र (हिन्दी अनुवाद), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1991
10. डॉ. भगवती प्रसाद, वैदिक राजनीतिक चिन्तन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयागराज, 1983
11. डॉ. रामनाथ वेदालंकार, महर्षि दयानंद का राजनीतिक दर्शन, आर्य प्रकाशन, दिल्ली, 1988
12. पं. हरिशंकर शास्त्री, वैदिक राज्य व्यवस्था, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1972
13. डॉ. सत्यव्रत सिंह, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1990
14. सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्य समाज का इतिहास एवं सिद्धान्त, दिल्ली, 1985
15. डॉ. ओंकारानन्द ठाकुर, धर्म और राजनीति, आर्य साहित्य भवन, हरिद्वार, 1978